ये ख़लिश कहाँ से होती...

आलोक राय >< संजय शर्मा >< शाहिद अमीन

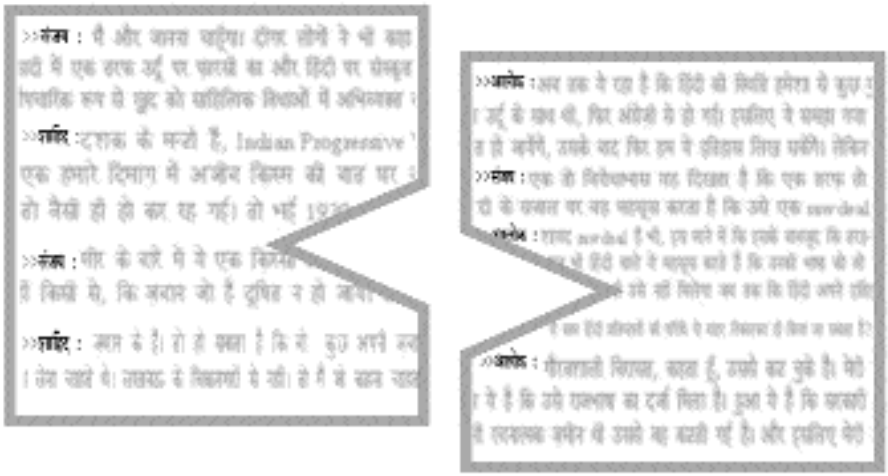

संजय शर्मा > < आलोक राय

>>**संजय :** अपनी किताब *हिन्दी नैशनलिज़्म* के बारे में बताएं — मुख्य कथ्य क्या है, कौन-कौन से मुद्दे उठाए गए हैं?

>>**आलोक :** संजय, मेरी कोशिश ये दिखाने की रही है इस किताब में कि हिन्दी, आधुनिक हिन्दी, जिसको आज हम मानक हिन्दी समझते हैं, वो किस प्रक्रिया से बनती है। ये इतिहास मेरी नज़र में हिन्दी जगत में पूरी तरह से आया नहीं है। इसके कई कारण हो सकते हैं, उन कारणों में जाने की ज़रूरत नहीं है। लेकिन मेरी नज़र में हिन्दी के अपने स्वस्थ विकास के लिए ज़रूरी है कि इतिहास ठीक से जाना जाए। इसलिए पहली कोशिश तो मेरी यही है कि ये इतिहास हिन्दी मानस में आये। मेरा अपना ख़याल ये भी है कि हिन्दी का विकास महज़ एक भाषा का विकास नहीं है बल्कि उसका सम्बन्ध और बड़े मसलों से भी है। इसलिए मुझे लगता है कि जो हिन्दी प्रदेश का एक तरह का राजनैतिक भटकाव या ठहराव है, उसमें अगर हिन्दी को भी अगर मेरी नज़र में (विकृत) इतिहास से मुक्ति दिलवाई जा सकती तो शायद ये विकास सम्भव हो सकेगा।

>>**संजय :** अच्छा तो ये बताइये कि क्या हिन्दी वालों ने — हिन्दी के जो लेखक रहे हैं, जो संस्थापक रहे हैं — उनके जीवन, कर्म और इतिहास की पर्याप्त आलोचना नहीं की है? आपको ऐसा लगता है?

>>**आलोक :** असल में अब तक ये रहा है कि हिन्दी की स्थिति हमेशा से कुछ युद्धकाल की-सी रही है। हिन्दी की स्पर्धा पहले उर्दू के साथ थी, फिर अंग्रेज़ी से हो गई। इसलिए ये समझा गया है कि एक बार जब हिन्दी के सारे युद्ध समाप्त हो जायेंगें, उसके बाद फिर हम ये इतिहास लिख सकेंगें। लेकिन मेरी नज़र में वो स्थिति कभी

आएगी नहीं। और ज़रूरी यह है कि ये जो बातें दब गई हैं, या दबाई गई हैं (ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ) लेकिन जो बातें ध्यान में नहीं हैं उनको ध्यान में लाना आवश्यक है सिर्फ़ इसलिए कि जो ग्रन्थियां इस से जुड़ गई हैं, उनसे मुक्ति मिल सके।

>>**संजय :** अच्छा एक विरोधाभास तो यह दिखता है कि एक तरफ़ तो हिन्दी प्रदेश का राजनैतिक प्रभुत्व रहा है, लेकिन हिन्दी के सवाल पर वह महसूस करता है कि उसे एक raw deal मिली है, उसके साथ सौतेला व्यवहार हुआ है, ये कैसे?

>>**आलोक :** हम एक तरह से देखें तो शायद raw deal है भी, इस माने में कि इसके बावजूद कि तरह-तरह की संवैधानिक गारंटियाँ मिली हैं, लेकिन आज भी हिन्दी वाले ये महसूस करते हैं कि उनकी भाषा को वो दर्जा नहीं मिला जो उसे मिलना चाहिए। मेरी नज़र में वो दर्जा उसे नहीं मिलेगा जब तक कि हिन्दी अपने इतिहास, अपने विकासक्रम को ठीक से समझेगी नहीं क्योंकि हमेशा ये माना गया है कि दोष कहीं और है। दुश्मन कहीं बाहर है। मेरा तर्क यह है कि हिन्दी के दुश्मन हिन्दी में ही हैं, या हिन्दी में भी हैं और पहले उनसे जूझना पड़ेगा। उसके बाद ही हम आगे बढ़ सकते हैं।

>>**संजय :** और ये काम हिन्दी प्रतिष्ठानों की परिधि से बाहर निकलकर ही किया जा सकता है?

>>**आलोक :** भई देखिये, नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन संस्थाओं ने और अन्य संस्थाओं ने भी अपने ज़माने में अच्छा काम किया है। लेकिन मेरी नज़र में ये उस इतिहास को भूल चुके हैं। अपने, जिसे मैं उनका हीरोइक बैकग्राउंड, गौरवशाली विरासत कहता हूँ, उससे कट चुके हैं। मेरी नज़र में शायद हिन्दी का सबसे बड़ा दुर्भाग्य ये है कि उसे राजभाषा का दर्जा मिला है। हुआ ये है कि सरकारी सुविधाओं की तलाश में हिन्दी की जो अपनी रचनात्मक ज़मीन थी उससे वह कटती गई है। और इसलिए मेरी नज़र में हिन्दी का मसला सिर्फ़ इन हिन्दी संस्थानों की गिरफ़्त में रहा तो कभी सुलझेगा नहीं। इसलिए हिन्दी वालों के लिए ये ज़रूरी है कि हम हिन्दी — अपनी भाषा — को फिर से अपनाएं और ये जो हिन्दी के ठेकेदार हैं, उनसे उसको बचाएं।

>>**संजय :** इस मुहिम में आप अभिजात वर्ग की क्या भूमिका देखते हैं? उसके लिए तो हिन्दी दूसरे दर्जे की भाषा रहेगी न?

>>**आलोक :** देखिये वो जो अभिजात वर्ग है, जो अंग्रेज़ी-भाषी वर्ग है, उससे ये उम्मीद करना कि हिन्दी की नैया पार लगाएगा, ये तो नामुमकिन है। लेकिन हिन्दी वालों को तो कुछ करना पड़ेगा। और उसके बाद फिर जब हमारा अपना मन साफ़ हो जाता है, उस के बाद हो सकता है कि दूसरी लड़ाई लड़नी पड़े। लेकिन अभी तो हम वो लड़ाई लड़ने के लिये भी मुक्त नहीं हैं।

>>**संजय :** एक चीज़ अक्सर देखी गई है कि अगर आप हिन्दी वालों को यह याद दिलाएं कि उनकी विरासत में सांप्रदायिकता के तत्त्व भी हैं तो वे परेशान हो जाते हैं। कहते हैं, साहब हिन्दी ऐसी नहीं है। आप इस पर क्या कहते हैं?

>>**आलोक :** देखिये मैं एक बात साफ़ कर दूँ कि मैं अपने आप को एक हिन्दी वाला मानता हूँ। इसलिए मैंने जो लिखा, अपने आप को एक हिन्दी वाला मान के लिखा है और हिन्दी के हक़ मे लिखा है। ये सच है कि एक ख़ास वर्ग के मन में ये भ्रांति है कि हिन्दी राष्ट्रवाद और हिन्दू राष्ट्रवाद एक है। मेरी नज़र में ये एक नहीं हैं। लेकिन इन दोनों में एक सम्बन्ध है। क्या सम्बन्ध है, ये हमें खुद जानना है। अगर हम ये चाहते हैं कि हिन्दी राष्ट्रवाद को

एक रूप दे सकें, कि हिन्दी राष्ट्रवाद और सांप्रदायिक राष्ट्रवाद एक नहीं हैं तो उसके लिए ये ज़रूरी है कि हिन्दी वाले पहले अपना इतिहास ठीक से जानें।

संजय शर्मा > < शाहिद अमीन

>>**संजय :** सबसे पहले आप यह बताइये कि यह हिन्दी और उर्दू का जो इतिहास है, क्या आप कहेंगे कि यह हमारे राष्ट्रवाद का भी इतिहास है। हिन्दी-उर्दू विवाद पर केंद्रित किताबों को पढ़ते हुए कई बार ऐसा लगता है जैसे साथ-साथ राष्ट्रवाद या साम्प्रदायिकता का इतिहास भी पढ़ रहे हों।

>>**शाहिद :** इसके बारे में एक तरह से तो मैं आप से मुत्तफ़िक़ हूँ, सहमत हूँ कि राष्ट्रवाद का इतिहास और हिन्दी-उर्दू का इतिहास भी एक तरह से मिला हुआ है। क्योंकि राष्ट्रवाद का इतिहास भी आख़िरकार भारत और पाकिस्तान का इतिहास हो जाता है। और एक तरह से हिन्दी और उर्दू का इतिहास हिन्दुओं और मुसलमानों के इतिहास के रूप में परिणत हो जाता है। लेकिन एक दूसरी बात है जो कि काफ़ी विस्मित करने वाली है, जिस पर लोग उतना ध्यान नहीं देते। पिछले 15-20 साल में हमने देखा है कि भारतीय राष्ट्रवाद को लेकर कई अवधारणाएँ निकलीं। तरह-तरह से इतिहासकार कह रहे हैं कि नहीं, यह ऐसा इतिहास है जिसको हमें नए तरीक़े से देखना है। लेकिन ताज्जुब की बात है कि बिल्कुल हाल तक हिन्दी के इतिहास को लेकर इस तरह से उतनी चर्चा नहीं हुई है। जैसे कि हिन्दी को अपने इतिहास की ज़रूरत ही न हो, वह तो बस, नैचुरली, है। इसलिए, आलोक राय की यह किताब एक अहम किताब है क्योंकि वह बताती है कि हिन्दी के भी कई इतिहास हो सकते हैं। हिन्दी के इतिहास में भी कई तरह से लोग दिख सकते हैं, जिस तरह से भारत के इतिहास में। जहाँ हिन्दी का – या यूँ कहिए – 'हिंदीत्ववादी' इतिहास या फिर राष्ट्रवाद का राष्ट्रवादी इतिहास एक ही हो सकता है, क्योंकि वह अपने आप में मुकम्मल है, अखण्ड है। लेकिन हिन्दी को लेकर अब नए सवाल उठ रहे हैं। ऐसे सवाल जो पहले राष्ट्रवाद को लेकर उठ चुके हैं। मसलन, एक तरह जो नया रवैया है, राष्ट्रवाद के इतिहास लेखन में सामने आया है, वो ये है कि राष्ट्रवाद के जो अभिजात हैं, एलीट हैं, ये दम भरते हैं कि हम 'निरीह जनता' और लोगों को रेप्रेज़ेंट करते हैं। लेकिन वो इन से भिन्न हैं। तभी तो वे रेप्रेज़ेंट करते हैं। इसलिए त्याग का जो भाव है वो बहुत अहम है किसी भी राष्ट्रीय नेता के लिए। गाँधी के बारे में तो यहाँ तक कहा गया कि 'देखिये बैरिस्टर थे, लेकिन कितना कुछ छोड़के साधारण आदमी की तरह हो गए'। उसी प्रकार हिन्दी भी यह दम भरती है कि वो भारत का जो यथार्थ है, उसको पूरी तरह से रेप्रेज़ेंट कर देती है। लेकिन क्या इसमें भी वही राष्ट्रवाद वाली बात नहीं है कि आप रेप्रेज़ेंट करते हैं क्योंकि आप बिल्कुल वो नहीं हैं। तभी तो आप रेप्रेज़ेंट कर रहे हैं।

तो क्या जो हिन्दी हम पढ़ते हैं, जिस हिन्दी से जूझते हुए हमारे बच्चे कई-कई बार खिन्न हो जाते हैं, क्या यह वही हिन्दी है जिसमें हमारा सर्वहारा या हमारा किसान बात करता है? हिन्दी को भारतीयता या सर्वसाधारण की ज़िंदगी का एक प्रतिबिम्ब समझा जाता है। लेकिन जो हिन्दी लिखी जाती है वो बिल्कुल वही नहीं है। देखिए प्रेमचन्द को लीजिये, *गोदान* को लीजिये। एक बहुत अहम राष्ट्रवादी उपन्यास है *गोदान*, जिसमें 'होरी' जब 'धनिया' से बात करता है तो एक भी भोजपुरी का शब्द उसमें नहीं आता।

भोजपुरी संज्ञाएं (nouns) हो सकती हैं *गोदान* में, भोजपुरी क्रियाएं (verbs) नहीं हैं। राही मासूम रज़ा का आप *आधा गाँव* देखिये। उसमें भोजपुरी verbs हैं, भोजपुरी वाक्य हैं। *आधा गाँव, मैला आंचल* इसीलिए ऐसे नॉवेल हैं, इतने अहम हिन्दी के नॉवेल हैं, जिनमें फुटनोट्स हैं। क्योंकि अगर किसी क्षेत्र के ठेठ यथार्थ को लेखक रेप्रेज़ेंट कर रहे हैं तो वह 'ठेठ' हिन्दी में रेप्रेज़ेंट नहीं कर पाते हैं। एक तरह से हिन्दी दावा करती है कि वो भारतीय जनता के ज़्यादा पास है उर्दू के बनिस्बत। लेकिन ये वो हिन्दी नहीं है जो जनता बोलती है। हिन्दी रेप्रेज़ेंट भी करती है लेकिन जिनको रेप्रेज़ेंट करती है उनसे ज़रा पृथक भी है। हिन्दी को अब ये महसूस करना है कि एक तरह से जहाँ वह रेप्रेज़ेंट कर रही है, वहीं वो लोगों को अपने ढंग से रेप्रेज़ेंट कर रही है। ये कोई जस-का-तस यथार्थ की अभिव्यक्ति नहीं है। हमारा एक भाषाई यथार्थ है और यह उसकी हिन्दी में अभिव्यक्ति है।

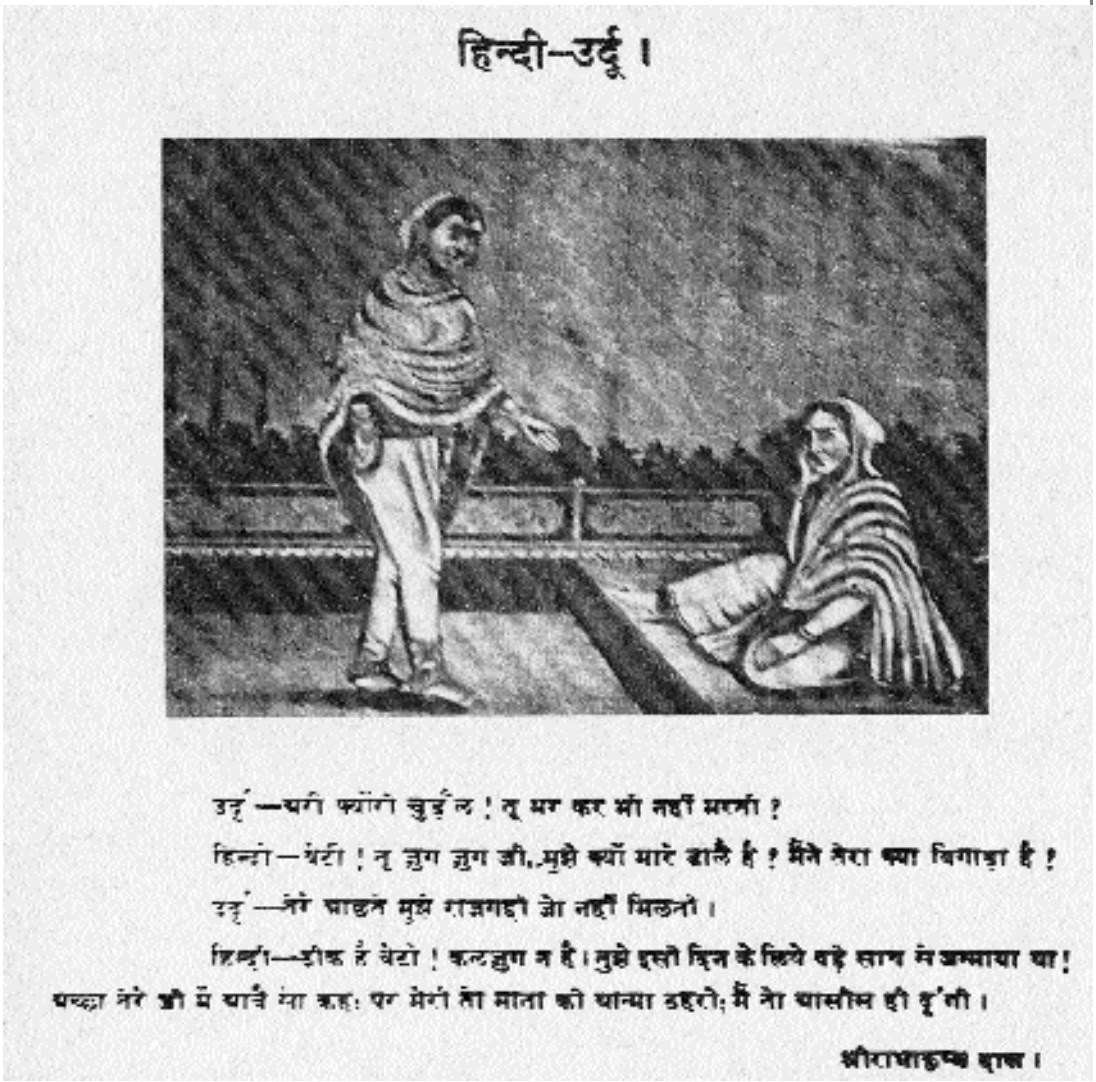

>>**संजय :** एक बात मैं और जानना चाहूँगा। दीगर लोगों ने भी कहा है और आलोक राय में भी है कि 18वीं-19वीं सदी में एक तरफ़ उर्दू पर फ़ारसी का और हिन्दी पर संस्कृत का प्रभाव बढ़ता है। लेकिन जब भी कोई भाषा औपचारिक रूप से खुद को साहित्यिक विधाओं में अभिव्यक्त करना शुरु करती है तो इस तरह का शुद्धीकरण प्रायः होता ही है। बोलने से लिखने से छपने तक एक बदलाव होता ही है। अगर यह अवश्यंभावी है तो हिन्दी और उर्दू के बदलाव को लेकर इतनी परेशानी क्यों?

>>**शाहिद :** एक हद तक ये बात ठीक है, लेकिन औपचारिक साहित्य भाषा में किस तरह लिखा जाये वो भी तो बदलता रहता है। उर्दू के बारे में मैं ये कहना चाहूँगा कि ज़ाहिर है कि 19वीं सदी में उसमें फ़ारसियत का एक पुट है। लेकिन उसी जगह मीर भी हैं जिनकी पोएट्री में उतनी फ़ारसी नहीं है। उसी तरह हमारे 1930-40 के दशक के

मन्टो हैं, Indian Progressive Writers' Association (भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ) है। एक हमारे दिमाग़ में अजीब क़िस्म की बात घर कर गई है कि साहब उर्दू एक बार तगड़ी फ़ारसी वाली बनी तो वैसी ही हो कर रह गई। तो भई 1930-50 के जो मन्टो हैं, वो क्या वही उर्दू लिख रहे हैं जो हिन्दुस्तान के अवाम को समझ में नहीं आती है?

>>**संजय :** लेकिन मीर के बारे में ये एक क़िस्सा आलोक राय ने दिया है कि एक बार वो लखनऊ गये और बोले तक नहीं किसी से, कि ज़बान दूषित न हो जाये। तो कुछ वो अहसास उस एलीट में हमेशा से था कि हम अपनी ज़बान को भ्रष्ट न कर दें।

>>**शाहिद :** अपनी ज़बान को भ्रष्ट न कर दें, ये तो है। लेकिन मीर में भी 'कभू' या और इस तरह के कई लफ़्ज़ हैं जो कि करख़नदारी ज़बान के हैं। तो हो सकता है कि वो कुछ अपनी ज़बान को जो दिल्ली के करख़नदार हैं उनसे लेना चाहते थे। लखनऊ के चिकनगरों से नहीं। तो मैं जो कहना चाहता हूँ वह यह कि एक तरह से क्योंकि हिन्दी का उर्दू पर 19वीं सदी में जो ज़बर्दस्त आरोप था, कि वह एलीटिस्ट है, इतना घर कर गया है हमारी सामूहिक भाषाई समझ में, इसलिए हम कई बार भूल जाते हैं कि 1930-40 तक आते-आते उर्दू वो एलीटिस्ट भाषा नहीं रही जो 19वीं सदी के आख़िरी दशकों की थी। नहीं तो साहिर को लीजिये या कैफ़ी आज़मी को लीजिये — आप देखेंगे कि उनके अंदर एक ताक़त है कि अपनी ग़ज़लों के अश्आर को ही वो बदल देते हैं, जब फ़िल्मों में आते हैं। तो उर्दू में एक क्षमता है, एक लोच है।

किसी भी भाषा की जब आपस में मुठभेड़ होती है तो ये एक तरह से लाज़िम है कि भाषा की बुनियादी ख़ासियत को एक जगह एक दौर में फ़िक्स कर दिया जाता है, क्योंकि आप अगर उसको फ़िक्स न करें तो उस भाषा को तेज़ बदलते हुए वर्तमान में कैसे बरत पाएंगे? तो मैं कहूँगा कि आज ख़ास तौर से हिन्दी की ये ज़रूरत है कि वह और लचीली हो, क्योंकि ज़ाहिर है हिन्दी — अगर मैं हिन्दी का एक शुद्ध शब्द इस्तेमाल करूं — पूर्णरूपेण इस वक़्त हिन्दुस्तान में सफल हुई है। इसलिए हिन्दी को अकड़ कर नहीं रहना चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि अगर फ़लां लफ़्ज़ आ गया तो मिश्रता या मिलावट आ जाएगी। अरे आप में तो भोजपुरी भी आएगी और आप में उर्दू भी आएगी क्योंकि भोजपुरी कोई बिल्कुल अलग भाषा तो है नहीं। और ज़्यादातर लोग तो अब उर्दू में नहीं लिख रहे हैं। तो अब जबकि हिन्दी ही एक अलग भाषा है जिसमें हम लिख रहें हैं, आप लिख रहे हैं, सब लिख रहे हैं तो अब वह वो हिन्दी नहीं हो सकती — हिन्दी साहित्य सम्मेलन वाली, नागरी प्रचारिणी सभा वाली। क्योंकि वो हिन्दी तब लड़ रही थी जब उर्दू भी ताक़तवर थी। आज हिन्दी सबकी है। इसलिए हिन्दी ज़ुबान को भी अब लचीला होना पड़ेगा, जैसे कि मीर साहब ने कहा कि "हम हुए, तुम हुए कि मीर हुए, सब उसी ज़ुल्फ़ के असीर हुए"। तो अब तो सभी लोग हिन्दुस्तान में बहुत हद तक हिन्दी में लिख रहे हैं। तो मैं जो देखता हूं जो कि मेरे ख़याल से एक दिलचस्प चीज़ हुई है — असग़र वजाहत हैं, अब्दुल बिस्मिल्लाह हैं, ये लोग हिन्दी में लिख रहे हैं, लेकिन वो एक पंडिताऊ हिन्दी तो नहीं लिखेंगे। इसलिए नहीं कि वो मुसलमान हैं, बल्कि इसलिए कि वो कामगार के बारे में लिख रहें हैं, बुनकर के बारे में लिख रहे हैं, एक ग़ैर हिन्दीत्ववादी जनपद के बारे में लिख रहे हैं। यहां मुझे एक दिलचस्प संभावना दिखाई देती है कि जिस तरह से हिन्दी ने अपने को परिभाषित किया था 19वीं सदी में उर्दू की टक्कर में — अब वो बदलेगा। बदलना चाहिये भी। क्योंकि अगर हमारे समाज में इतनी उथल-पुथल हो रही है, दलित प्रश्न इतना उभर के आया है। दलित लोग हर चीज़ को प्रश्नांकित कर रहे हैं और एक तरह से बहुत हद तक सही कर रहे हैं। उनकी तरफ़ से भी भाषा पर तो अब सवाल उठेंगे। हिन्दी जीती है, लेकिन क्योंकि जीत गई है और सबको रेप्रेज़ेंट करने का दम भरती है तो उसको अपने दरवाज़े और खिड़कियाँ और खोलनी पड़ेंगी।

>>**संजय :** फिर राजभाषा बनकर और राज्य के माध्यम से जो वो अपनी शक्ति को और बढ़ाना चाह रही है वो भी ठीक नहीं होगा...

>>**शाहिद :** ये तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि सरकार और अवाम जो है उसमें तो हमेशा शासक और शासित का रिश्ता रहा है भले ही वे हमारे प्रतिनिधि हों। तो अगर भाषा सत्ता की भाषा होगी तब तो फिर वो लोगों की बोलचाल की भाषा से और दूर होती चली जायेगी।

>>**संजय :** लेकिन अब तो ये हालत हो गई है कि उर्दू को अगर सरकारी मदद न मिले तो उस की पत्रिकायें और उसका पढ़ना-लिखना ही बिल्कुल जैसे ख़त्म हो जायेगा। आप सोचते हैं कि उसे सरकारी प्रश्रय की ज़रूरत है?

>>**शाहिद :** मेरे ख़याल से ये ज़रूरी है क्योंकि अगर देखिये तो जिस तरह से एक प्रकार का 'जल-जमाव' हो गया है, जिसकी वजह से उर्दू पढ़ना नामुमकिन-सा है हिन्दी जनपद में, स्कूल में, अगर आप ऐंग्लो-अरैबिक स्कूल में जाते हैं, मदरसे में जाते हैं, तब तो आप उर्दू जानेंगे। उसके अलावा आप कुछ नहीं जानेंगे। तो उर्दू का एक तरह से ghettoisation (दड़बाकरण) हो गया है। तो ज़ाहिर है कि एक तरह से उसको प्रोत्साहन देना पड़ेगा। हालांकि उसकी भी समस्याएं हैं, मसाइल हैं। क्योंकि फिर वही होता है कि एक ख़ास गुट सरकारी वरदहस्त के बल पर ही अपना काम करता रहता है। लेकिन मैं एक बात यहाँ कह देना चाहता हूँ कि मैं इससे मुत्तफ़िक़ नहीं हूँ, सहमत नहीं हूँ कि साहब, इस लिपि को ही ख़त्म कर दीजिये। क्योंकि वरना तो भई हिन्दी को भी क्यों न रोमन कर दिया जाए? दक्षिण में भी लोग पढ़ने लगेंगे। अगर हिन्दी की पहली लड़ाई देवनागरी लिपि की थी तो उर्दू को अगर संरक्षण देना है तो उसको रोमन लिपि करके ऐसा करना मेरे ख़याल से दुरुस्त नहीं होगा क्योंकि फिर आप उसे एक लम्बे ज़ख़ीरे से काट देंगे। उर्दू की एक जगह है, जगह थी और उसके लिये थोड़ी-बहुत तो सरकार से मदद की ज़रूरत है। लेकिन उससे ज़्यादा मेरे ख़याल से ज़रूरत है हिन्दी पढ़ाने में, हिन्दी पढ़ने में, हिन्दी लिखने में और लचीले होने की। स्कूली हिन्दी तो आज ऐसी है कि दूर से ही पता चल जाये कि साहब उर्दू का शब्द आपकी तरफ़ आने वाला है और बचके भाग लीजिये। जब तक ये मानसिकता रहेगी तब तक हमारा जो तनाव है भाषा को लेकर वो हमेशा रहेगा। मैं आप को बताऊँ आजकल मैं जो थोड़ा-बहुत हिन्दी में लिखता हूँ, जहाँ भी 'ज' के नीचे बिन्दी लगाता हूँ तो लोग काट देते हैं — कि भई हिन्दी में बिन्दी क्यों? हिन्दी में नीचे की बिन्दी क्यों — तो भैया, हिन्दी में ऊपर भी बिन्दी क्यों? अगर आपका अल्फ़ाबेट (ककहरा) इतना अड़ियल रहेगा तो भाषा किस तरह से लोगों को आपस में एक साथ मिला पाएगी।

>>**संजय :** तो ये सवाल क्या इतना उलझ गया है? ये दरार बहुत ज़्यादा हो गई है? या आपको लगता है कि नहीं, अभी सारे रास्ते बंद नहीं हुए हैं?

>>**शाहिद :** ये तो भई अब साहित्य के ऊपर काफ़ी कुछ मुनहसिर है और अख़बार और साहित्य के बीच क्या रिश्ता हो, इसके ऊपर मुनहसिर है। जहां तक मैं देखता हूँ, अख़बार तो काफ़ी शुद्धीकरण की तरफ़ चलते रहेंगे। लेकिन आज हिन्दी के जो नए क़िस्म के लेखक आ रहे हैं, और वो नए मुद्दे उठा रहे हैं जो कि हाशिए पर रखे हुए लोगों के — चाहे वो औरतों का सवाल हो या दलितों का सवाल हो या जनजातियों का सवाल हो। तो ज़ाहिर है कि हमें सोचना पड़ेगा कि क्या *सरस्वती* की भाषा या महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा ही उपयुक्त है इन लोगों की भावनाओं को सामने लाने के लिए। मैं समझता हूँ कि जब एक नए क़िस्म के लोग हमारे शिक्षण संस्थानों में आएंगे तो जो बोलियाँ हैं, वो भोजपुरी है या अवधी है या अन्य, वो अपने आप तो ग़ायब नहीं हो जाएंगी? अभी भी दिल्ली में लोगों को थोड़ा ताज्जुब होता है — अरे ये तो 'बिहारी' सुनाई दे रही है। सिर्फ़ खड़ी बोली या पंजाबी सुनाई देनी चाहिये! तो एक तरह से इतनी social mobility होगी उसके साथ मुझे लगता है कि साहित्य में, हिन्दी लेखन में तो ज़रूर कुछ न कुछ बदलाव आयेगा। इतिहासकार के नाते मैं तो चाहूँगा कि जब मैं इतिहास लिखूँ तो वो हिन्दी में लिखा इतिहास हो, इतिहास में लिखी हिन्दी न हो।

>>**संजय :** आपकी नज़र में आलोक राय की किताब की कोई कमज़ोरी, या ख़ूबियां क्या हैं?

>>**शाहिद :** किताब की ख़ूबी तो ये है कि एक दुभाषिया आदमी लिख रहा है। क्योंकि अभी तक ज़्यादातर हिन्दी का इतिहास जो लोग लिखते रहे हैं वे हिन्दी विभाग के ही लोग रहे हैं। आलोक राय अंग्रेज़ी पढ़ते-पढ़ाते हैं और वो हिन्दी पर लिख रहे हैं। तो एक बड़ी दरार जो है, कि भई एक तो अभिजात वर्ग है जो सिर्फ़ अंग्रेज़ी काटता है और हम लोग हिन्दी वाले हैं, हम हिन्दी जानते हैं, एक तो उस खाई को उन्होंने पाटने की कोशिश की है। मेरे ख़याल से उन्होंने बहुत सारी चीज़ें कहने की कोशिश की है। लेकिन कमज़ोरी अगर है तो यह कि वो एक तरह से 1930-50 में हिन्दी और उर्दू में किस तरह का लेखन हुआ, ख़ासतौर से प्रगतिशील लेखक संघ वाले लोगों का, उसका रिश्ता पहले की लड़ाइयों से क्या है, हिन्दी उर्दू की जो जड़ छवि थी, उसे कैसे बदला, उसके ऊपर आलोक राय ने उतना काम नहीं किया। हालाँकि वो हमारा बहुत बड़ा सरमाया है, क्योंकि आख़िर वही है जो कि अभी हाल तक हमारी फ़िल्मों का एक अटूट अंग था। अब तो ख़ैर हिन्दी फ़िल्म गीतों का क्या हाल हुआ है वो तो अल्लाह या भगवान या ईसा मसीह, जो भी इस वक़्त सैटेलाइट में बैठा देवता है, वही जाने। लेकिन एक हद तक 1930-50 में प्रगतिशील लेखकों ने जो लिखा है, किस क़िस्म की हिन्दी और उर्दू आम लोगों के मसाइल और परेशानियों को झेलती हुई उभरकर आई है, मेरे ख़याल से आलोक राय उसकी तफ़्सील में नहीं जाते हैं, जो कि एक महत्वपूर्ण दृष्टि है हिन्दी और उर्दू की गुत्थी को समझने और सुलझाने में।

>>**संजय :** आपने फ़िल्मों की बात की — अब टेलीविज़न पर या फ़िल्मों में 'मुस्लिम सोशल' जैसी जो विधा थी वह बहुत कम दीखती है। टेलीविज़न तो जैसे एक अलग भाषा ही गढ़ रहा है जिसे हम हँसी और व्यंग्य में कभी-कभी 'हिंगलिश' कहते हैं। इस माहौल में क्या आपको ये लगता है कि भाषा पर पढ़ने से ज़्यादा टीवी देखने का असर हो रहा है?

>>**शाहिद :** टीवी का असर तो बहुत ज़बर्दस्त है और ज़ाहिर है कि हिन्दी भी स्कूलों में एक अजब कठमुल्लई तरीक़े से पढ़ाई जाती है। ज़्यादातर हिन्दी के शिक्षक, विशेष शिक्षक होते हैं। वो आप का क्लास टीचर नहीं होता है। वो बाहर से आता है, पढ़ा कर चला जाता है। तो ये हिंगलिश भाषा जो निकल रही है, मैं इसका समर्थक नहीं हूँ। मैं समझता हूँ कि अभी भी जो ज़्यादा मज़ेदार बात होगी वो ये कि जो हमारी नई पीढ़ी के लेखक होंगे वो किस तरह से क्लिष्ट हिन्दी को अपने तजुर्बों से प्रभावित करेंगे। वो तजुर्बे जो एक तरह से कई क़िस्म की बोलियों से जुड़े हुए हैं, उनको किस क़िस्म से लाएंगे। वो हिन्दी के लिए शायद वही काम करेगा जो अंग्रेज़ी में लिखने वाले हिन्दुस्तानी लेखकों ने अंग्रेज़ी के लिए किया। आज बहुत कहा जाता है कि सलमान रूश्दी के बाद से भारतीय लेखक जो अंग्रेज़ी में लिखते हैं उन्होने अंग्रेज़ी ज़बान को क्या से क्या कर दिया। मैं सोचता हूँ कि अगले 10-15 साल में हिन्दुस्तान में हिन्दी को लेके भी शायद यही होगा। शायद हम कहें कि वो देखिए, उस ख़ित्ते का अदीब, उस क्षेत्र का लेखक, उस भाषाई इलाक़े का मनई — उसे देखिए उसकी बात में एक पूरा इलाक़ा जी उठता है, जिससे हम नावाक़िफ़ थे। उसे पढ़े बिना उस जवार को नहीं जाना जा सकता। अगर हिन्दुस्तानी तजुर्बे को लेकर अंग्रेज़ी के लेखक उस भाषा में जो हासिल कर पाते हैं वही बात उत्तर भारत के अलग-अलग तजुर्बों को लेकर हिन्दी में क्यों नहीं हो सकता है? उसने मानक हिन्दी को कैसे-कैसे नए आयाम दिए हैं, यह सोचने की बात है।